नये साल में शायरों, शायरियों और ग्रीटिंग काईस की बात

अब, बात जब ग्रीटिंग कार्ड्स की होगी तो यह बात भी मजबूती से दर्ज की जायेगी कि भारत की सबसे सस्ती, नंगी और तीखी शायरियाँ ग्रीटिंग्स के महंगे पन्नों पर दिलों जान से फिदा रही । मिर्जा गालिब साहब की किताबों के एक पन्ने की बमुश्किल कीमत एक से डेढ़ रूपये होगी किन्तु भारत में ग्रीटिंग्स पर लिखी जाने वाली शायरियों की कीमत पचास पैसे से पाँच सौ रूपये प्रति पन्ने के हिसाब से उतारी जातीं रहीं हैं।

यदि कोई मुझसे पूछे कि भारत के बच्चे शायरियाँ कब लिखना शुरू करते हैं तो मेरे हिसाब से यह कहना सबसे माकूल होगा कि, नया साल!

जी हाँ! ग्रिटिंग कार्ड्स के जमाने में कार्ड के भीतर पान के पत्ते की आकृति, उस पर एक तीक्ष्ण बाण से आक्रमण के बाद कुछ लयबद्ध शायरियाँ लिखने का एक बड़ा कालखंड रहा और इस बात पर किसी को ऐतराज़ भी नहीं होना चाहिए।

पत्र-व्यवहार के शुरुआती क्रम में ग्रीटिंग्स, किसी के हृदय में प्रवेश करने के लिए एक गेट पास की तरह होता था। ग्रीटिंग्स को एक विशेष आरक्षण प्राप्त था जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक प्राथमिक सम्प्रेषण कर सके।

हां तो बात हो रही थी ग्रीटिंग पर शायरी लेखन की-ग्रीटिंग के भीतर दो कोरे पृष्ठों पर अपनी भावनाओं के सागर को उड़ेलना इतना आसान काम नहीं होता था। सबसे पहले यह तय करना कि हमारे बीच किस विश्वसनीय व्यक्ति की हैंडराईटिंग बढिया है। फिर यह चुनना कि इस पर पेन चले या स्कैच, फिर किन-किन रंगों का प्रयोग हो। हृदय आकृति बायें पृष्ठ पर बने या दायें.. फिर एक समस्या यह कि To- प्रेषणकर्ता है या प्राप्तकर्ता..From में भी r तथा o के स्थान को लेकर एक संशय। ऐसी तमाम कठिनाइयों के बीच डायरी या स्मृति से ऐसी शायरी को ग्रीटिंग के वक्षस्थल पर उतारना एक उत्सव से कम नहीं था। पिछले तीन दशकों से लाखों युवाओं के भावनाओं की सुनामी, न जाने कितनी मंहगी ग्रीटिंग्स, आज भी अपने जिस्म पर दशकों से लेकर ढो रहीं हैं।

दो-चार शायरियों की बानगी देखें-

गाड़ी में चक्का चक्के पे ठेली
न जाने किस हाल होगी सहेली।
चला जा रे लेटर चमकते-चमकते
सहेली जी को कहना नमस्ते-नमस्ते।
चलती है गाड़ी उड़ती है धूल
तेरह की माला सात के फूल
पाओगे आम बोओ बबूल
नए साल की बधाई होवे कुबूल..
कच्ची कली अनार की तोड़ी नहीं जाती।
बचपन की दोस्ती छोड़ी नहीं जाती।
टमाटर के रस को जूस कहते हैं
जो ग्रीटिंग न दे उसे कंजूस कहते हैं.

नये साल की शुभकामनाओं के बहाने अपने एक वर्ष की दमित, वंचित और कुंठित भावनाओं को अपने प्रिय तक पहुचांने के रूप में ग्रीटिंग्स ने सारथी की तरह बखूबी निभाया..भले आज उसके बड़े साम्राज्य को मोबाइल तकनीकी ने छिन्नभिन्न कर दिया हो।

किन्तु यह बात हमें ध्यान रखनी होगी कि ऐसी न जाने कितनी कितनी शायरियों ने सखा-सखी, पतिपत्नी, प्रेमी-प्रेमिकाओं को नववर्ष में उनकी भावनाओं को संजीवनी प्रदान किया। सर्वप्रथम उन तमाम शायरियों को 'नमन' जिनका मोबाइल युग में 'काम तमाम' हो गया।

ग्रीटिंग्स के बाद डायरी और कैलेण्डर, नववर्ष की शुभकामनाओं की वाहक बनीं। इधर कुछ सालों से कैलेंडर में किंगफिशर के उत्तेजक कैलेंडरों की चर्चा रही, हांलाकि ऐसे मनमोहक कैलेंडर तारीख की वजह से नहीं बल्कि नेत्रों की रोशनी बढ़ाने के लिए कमरे की दीवारों पर एक नयन औषधि की तरह टांगे जाते हैं..खैर! अब तो कैलेंडरों का भी रुतबा विडियो कैसेट की तरह खत्म ही हो गया..अब वो दीवारों पर कम, कहीं लपेटकर लुढ़के, ढुलके ज्यादा दिखाई देते हैं।

अब बात आती है डायरी की...नववर्ष पर डायरी हासिल करना एक आम आदमी के लिए हमेशा से एक ऊंचे ख्वाब जैसा ही रहा। भारत में लोग शुभकामनाएं तो बहुत देते हैं किन्तु डायरी, हज़ार-पांच सौ में से कोई बिरला ही पकड़ता है। वैसे न तो डायरी देने वाले लोग सामान्य होते हैं और न ही डायरी हासिल करने वाले, आज भी आम आदमी के हाथ तो तीन साल पुरानी डायरी ही आती है।

एक विश्वसनीय आंकड़े के अनुसार भारत में सर्वाधिक कोरे पन्ने डायरी में ही पाये जाते हैं। एक बहुत बड़ी आबादी डायरी के पहले दिवस पर लिखने की हिम्मत नहीं जुटा पाती। प्रथम पृष्ठ पर "? गणेशाय नम:" लिखना तो आसान किन्तु शेष चमचमाते पन्नों पर पहले दिन ही कलम चलाने की हिम्मत सब नहीं कर पाते। सच तो यह कि डायरी देने से कहीं कठिन है, उस पर तुरन्त लिखना है...इसलिए तो भारत वर्ष में लगभग 89 डायरियों का कौमार्य तीन से आठ साल तक सुरक्षित रहता है।

डायरियों का अधिकाधिक प्रयोग बालिकाओं द्वारा गीत/गारी लेखन में एवं युवाओं द्वारा सूक्तियां का लेखन (जो अपने जीवन में कभी न उतर पावें) किया जाता है। आज भी भारत में सर्वाधिक आदर्श वाक्य या तो डायरी में धूल फांक रहे हैं या किसी राजनीतिक मंच से जनता के बीच फेकें जाते हैं।

मित्रों सदैव से नई तकनीक ने पुराने स्थापित उपकरणों की चूलें हिलाईं हैं. इसलिए किसी को यह यह भ्रम या अभिमान नहीं रहना चाहिए कि मेरा ही सिक्का हमेशा चलेगा। जिसको यह भ्रम हो वो अपने युवावस्था के दिनों में प्राप्त ग्रीटिंग्स को निहार ले। जिसमें उनके प्रिय की लिखी शायरी उतनी ही नमकीन है और हृदय आज भी उतना रक्तरंजित मिलेगा लेकिन नहीं मिलेगी तो वो प्यारी, दुलारी ग्रीटिंग्स ।

नववर्ष पर उन तीनों संदेश वाहन के प्रति मेरी हृदय से संवेदना जो आज भी दुकानों पर अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहें हैं और आप सब को कैलेंडर के प्रथम दिवस, डायरी के प्रथम पन्ने एवं ग्रीटिंग की किसी प्रचलित शायरी से शुभकामनाएं।

- रिवेश प्रताप सिंह

स्त्री की कोख का सहारा लेने वाले देवता को स्त्रियों से डर क्यों लगता है ?

गीताश्री

ये काम उन्हें रात के अंधेरे में चोरी-छिपे नहीं करना चाहिए था, दिन दहाड़े मंदिर में घुसें और जिस देवता को मन हो, छुएं, पूजें. सवाल धर्म में आस्तिकता का नहीं, सवाल भगवान अयप्पा का नहीं, सवाल महिला के अधिकारों का है, जिसे दुनिया की कोई ताकत नहीं रोक सकती.

ये जानते हुए कि स्त्रियों की मुक्ति का रास्ता धर्म से होकर नहीं गुज़रता, बल्कि धार्मिक पाखंडों को कुचल कर गुज़रता है. ये जानते हुए कि उनकी मानसिक गुलामी का सबसे बड़ा कारण धर्म है, जिसका जाने अनजाने संवहन वे सदियों से करती चली आई हैं. आंख मूंद कर धर्म का निर्वाह किया और आगे भी उसकी जकड़ में रहेंगी. क्योंकि धर्म मनुष्य को साहसिक नहीं, डरपोक बनाता है, शोषक और पखंडी बनाता है, महिलाएं धार्मिक रुढ़ियों में जकड़ी रहेंगी.

यही कारण है कि सबरीमाला मंदिर में प्रवेश की लड़ाई से असहमत होते हुए भी सहमत हूं, क्योंकि मुझ जैसी तमाम सचेतन स्त्रियों के लिए यह एक प्रतीकात्मक लड़ाई है. स्त्री अधिकारों का मामला है और आस्था ने नाम पर गैरबराबरी के खिलाफ युद्ध का ऐलान है. यह लड़ाई अंतिम फैसले तक पहुंचने तक जारी रहेगी, रहनी चाहिए.

ताज़ा ताज़ा मामला सामने आया है कि कल नये साल की अर्द्धरात्रि में दो स्त्रियां केरल के सबरीमाला मंदिर में चोरी—छिपे घुसीं और पता चलते ही मंदिर प्रशासन मंदिर की सफाई में जुट गया. महिलाओं के प्रवेश से मंदिर अपवित्र हो गया, जिसे पवित्र करने की कोशिश की जा रही है.

जाने कैसे देवता हैं, जिन्हें स्त्रियों से डर लगता है. देवताओं को महिलाओं से डर क्यों लगता है? देवता भी तो अपने पैदा होने के लिए स्त्री की कोख खोजते हैं. राम और कृष्ण को भी अपने लिए कोख खोजना पड़ा था और सामान्य मनुष्य की तरह नौ महीने कोख के अंधेरे में गुज़ार कर बाहर आए थे. ये अलग बात है कि वे गा सकते हैं- भय प्रकट कृपाला....

अगर प्रकट ही होना था तो कोख में आने का नाटक क्यों? कोख के नाम पर देवकी का जेल में सिसक—सिसक कर सारा जीवन क्यों काटना पड़ा? देवता थे, प्रकट हो जाते, कहीं भी, कभी भीज

स्त्री की कोख का सहारा लेने वाले देवता को स्त्रियों से डर क्यों लगता है? देवता को लगता है या उनके एजेंटो को लगता है? देवता अयप्पा के नाम पर पिछले 800 साल से सबरीमाला मंदिर में 10 वर्ष से 50 साल की महिलाओं का प्रवेश अंदर वर्जित है. क्योंकि इस उम्र में स्त्रियां रजस्वला होती हैं. उनके छूने से देवता अयप्पा की ताकत कम होती जा रही है. जब देवता की ताकत कम होगी तो भला उन्हें दुनिया क्यों पूछेगी?

पढ़े लिखे, अनपढ़ों को नहीं समझाया जा सकता कि माहवारी न होती तो वे पैदा न होते. माहवारी स्त्री की ताकत है जिसके आने से वह उर्वरा होती है. सृष्टि का प्रतीक है माहवारी. स्त्री की कोख से पैदा होने वाले देवता अपवित्र नहीं होते. माहवारी बंद होती है तभी तो कोई जीवन पैदा होता है. कोख स्त्री की नैसर्गिक ताकत है. अगर माहवारी के दौरान स्त्री अपवित्र है तो उसी माहवारी के रुकने से पैदा हुए देवता कैसे पवित्र हुए?

क्या आस्था इतनी अंधी बना देती है कि सामान्य विज्ञान के बातें भी उनके गले के नीचे नहीं उतरती? शिवपुत्र अयप्पा के जन्म की कथा भी बड़ी सनसनीखेज और विवादास्पद है. किसी को दिलचस्पी हो तो गूगल में सर्च करके उनके जन्म की कथा पढ़ सकते हैं. उनके जन्मकथा पर जब कोई पवित्रताङ्कअपवित्रता का बोझ नहीं है तो उनको माहवारी वाली स्त्रियां छू लें तो क्या दिक्कत है? अयप्पा को कोई दिक्कत नहीं होगी. उनके एजेंट, सारे के सारे किसी न किसी स्त्री के कोख से पैदा हुए हैं, उन्हें बड़ी दिक्कतें हैं.

सन 2006 में मंदिर के एक पुजारी परप्पनगडी ने कहा था- मंदिर में स्थापित अयप्पा अपनी ताकत खो रहे हैं, वे नाराज़ हैं, क्योंकि मंदिर में किसी युवा महिला ने प्रवेश किया था.

इस बात की पुष्टि कर दी, कन्नड़ अभिनेत्री जयमाला ने कि 1987 में वे अपने पति के साथ मंदिर गई थीं, भीड़ की वजह से वे गर्भगृह पहुंच गईं, जहां पुजारी ने उन्हें फूल भी भेंट किया था. वे इसका प्रायश्चित करने को तैयार हैं.

पहले इतिहास में झांकते हैं. मामला सुप्रीम कोर्ट में गया. इसको राजनीतिक रंग भी दिया गया. सभी दल अपनी राजनीति के अनुसार इस मामले में दखल दे रहे हैं. एक्टिविस्ट निवेदिता झा खुल कर बोलती हैं- 'सबरीमाला पर सुप्रीम कोर्ट का फैसला 2018 की सबसे बड़ी उपलब्धि है. कोर्ट ने धार्मिक आधार पर भेदभाव की बहस को ही खत्म कर दिया. लेकिन दोहरे मापदंड उनके हैं जो संविधान की बात तो करते हैं लेकिन संविधान की रक्षा नहीं करते. जहां संविधान की रक्षा और महिलाओं समानता की बात हो वहां उसके खिलाफ खड़े हो जाते हैं.'

यह सच है कि सुप्रीम कोर्ट पर भी भयानक दबाव है. हालांकि सुप्रीम कोर्ट के पांच जजों की बेंच ने ऐतिहासिक फैसला दिया था. फैसला महिलाओं के पक्ष में था. यहां गौर तलब है कि पांच जजों में से चार पुरुष जजों ने महिलाओं के पक्ष में फैसला दिया जबकि एक महिला जज ने सबरीमाला मंदिर के पक्ष में फैसला सुनाया था. महिलाओं के पक्ष में फैसला देते हुए चीफ जस्टिस ने कहा थाङ्क आस्था ने नाम पर लिंगभेद नहीं किया जा सकता है. कानून और समाज का काम सभी को बराबरी से देखने का है. महिलाओं के लिए दोहरा मापदंड उनके सम्मान को कम करता है. भगवान अयप्पा के भक्तों को अलग अलग धर्म में नहीं बांट सकते. अनुच्छेद-25 के मुताबिक सभी बराबर हैं, समाज में बदलाव दिखाना ज़रूरी है. पहले महिलाओं पर पांबदी उनको कमजोर मान कर लगाई गई थी. महिलाओं को किसी भी स्तर से कमतर आंकना, संविधान का उल्लघंन करना है.

सबरीमाला के पक्ष में फैसला देते हुए कहा गया कि आस्था से जुड़े मामले को समाज को ही तय करना चाहिए. ना कि कोर्ट को. यहीं से फिर एक नया विवाद शुरू हुआ कि कोर्ट आस्था के मामले में दखल दे या न दे.

मंदिर प्रशासन का कितना वाहियात तर्क है, रोक को लेकर. क्योंकि एक खास आयु वर्ग की महिलाएं माहवारी के दौरान शुद्धता बनाए नहीं रख सकतीं, वे उस दौरान अपवित्र होती हैं, इसलिए उन पर रोक लगाया जाना उचित है.

यहां महिलाओं के पक्ष में कई ठोस तर्क हैं. पहली बात तो ये कि अनुच्छेद-25 के मुताबिक आस्था के नाम पर लिंगभेद नहीं हो सकता, सभी बराबर हैं.

महिलाओं को ही समझना होगा कि संविधान ने उन्हें कितना अधिकार दे रखे हैं. अब तक वे क्यों मानती चली आईं कि माहवारी के दौरान वे अपवित्र होती हैं. माहवारी एक जैविक प्रक्रिया है, एक स्वभाविक क्रिया, जो उसकी देह के साथ घटित होती है. इसमें पवित्रता-अपवित्रता का अवधारणा कहां से आती है. एक सहज जैविक प्रक्रिया को लेकर इतना अंधविश्वास कहां से आता है. धर्म का इससे क्या लेना देना.

सारी दिक्कतें महिलाओं की तरफ से हैं कि वे माहवारी के बारे में खुल कर बात करने से हिचकती रही हैं. खुद ही उसे अशुद्धि की तरह देखती हैं. पितृसत्ता के स्त्रीविरोधी विचारों को खाद-पानी यहीं से मिलता रहा है. औरतें माहवारी होते ही बहुत-सी भ्रांतियों से घिर जाती हैं कि इस दौरान पूजा करना महापाप है, भगवान जी अपवित्र हो जाते हैं, इस दौरान खट्टा नहीं खाना चाहिए, अचार नहीं छूना चाहिए, फफूंद लग जाता है, सड़ जाता है इत्यादि इत्यादि... एक सामान्य-सी जैविक प्रक्रिया अपराधबोध में बदल जाती है और जिसका सिरा आस्थाओं के अंधलोक से जाकर जुड़ता है.

अब महिलाओं का एक बड़ा वर्ग माहवारी पर खुलकर बोलने लगा है, धार्मिक मान्यताओं पर चोट करने लगा है, महाराष्ट्र से क्रांति की शुरुआत हो चुकी है. यह लड़ाई नहीं थमेगी. अगर मंदिर में प्रवेश का मामला समाज को तय करना चाहिए, कोर्ट को नहीं, तो समाज का आधा हिस्सा तो महिलाओ का है. स्त्रियां तय करेंगी, लेकिन यहां खतरे हैं कि स्त्रियों को राजनीतिक दल आसानी से मैनेज कर लेते हैं.

ऐसा नहीं होता तो बनारस में 'वाटर' (निर्देशक-दीपा मेहता) फिल्म की शूटिंग के दौरान धरने पर बैठी हुई स्त्रियां पूछे जाने पर ये न कहतीं कि हमने फिल्म की स्क्रिप्ट नहीं पढ़ी, हमें तो पार्टी ने कहा कि धरने पर बैठना है, क्योंकि फिल्म में धर्म के खिलाफ कुछ दिखाया जा रहा है.

कम से कम मंदिर में प्रवेश की लड़ाई लड़ने वाली महिलाएं अपने अधिकारों को लेकर सचेत तो हैं.

2014 में लूट या 2018 में टूट : 2019 के सामने चुनौतियां

पुण्य प्रसून वाजपेयी

नये बरस का आगाज सवालो के साथ हो रहा है। ऐसे सवाल जो अतीत को खंगाल रहे है और भविष्य का ताना-बाना अतित के साये में ही बुन रहे है। देश लूट या टूट के मझधार में आकर फंसा हुआ है ।देश संसदीय राजनीतिक बिसात में मंडल-कमंडल की थ्योरी को पलटने के लिये तैयार बैठा है । देश के सामने आर्थिक चुनौतिया 1991 के आर्थिक सुधार को चुनौती देते हुये नई लकीर खिंचने को तैयार है। देश प्रधानमंत्री पद की गरिमा और ताकत को लेकर नई परिभाषा गढने को तैयार है। और बदलाव के दौर से गुजरते हिन्दुस्तान की रगो में पहली बार भविष्य को गढने के लिये अतित को ही स्वर्णिम मानना दौड रहा है। ध्यान दे तो बरस बीतते बीतते एक्सीडेंटल प्राइम मनिस्टर मनमोहन सिंह की राजनीति और अर्थशास्त्र को उस सियासत के केन्द्र खडा कर गया जो सियासत आज सर्वोच्च ताकत रखती है।

सिलसिलेवार तरीके से 2019 में उलझते हालातो को समझे तो देश के सामने पहली सबसे बडी चुनौती भ्रष्टाचार की लूट और सामाजिक तौर पर देश की टूट के बीच से किसी को एक को चुनने की है। काग्रेसी सत्ता 2014 में इसलिये खत्म हुई क्योकि घोटालो की फेरहसित देश के सामने इस संकट को उभार रही थी कि उसका भविष्य अंधकार में है। पर 2018 के बीतते बीतते देश के सामने भ्रष्टचार की लूट से कही बडी लकीर सामाजिक तौर पर देश की टूट ही चुनौती बन खडी हो गई। संविधान से नागरिक होने के अधिकार वोटर की ताकत तले इस तरह दब गये कि देश के 17 करोड मुस्लिम नागरिक की जरुरत सत्ता को है ही नहीं इसका खुला एहसास लोकतंत्र के गीत गाकर सत्ता भी कराने से नहीं चुकी। नागरिक के समान अधिकार भी वोटर की ताकत तले कैसे दब जाते है इसे 14 करोड दलित आबादी के खुल कर महसूस किया । यानी संविधान के आधार पर खडे लोकतांत्रिक देश में नागरिक शब्द गायब हो गया और वोटर शब्द हावी हो गया। 2019 में इसे कौन पाटेगा ये कोई नहीं जानता। 2019 की दूसरी चुनौती 27 बरस पहले अपनाये गये आर्थिक सुधार के विकल्प के तौर पर राजनीतिक सत्ता पाने के लिये अर्थवयवस्था के पूरे ढांचे को ही बदलने की है। और ये चुनौती उस लोकतंत्रिक सत्ता से उभरी है जिसमें नागरिक , संविधान, और लोकतंत्र भी सत्ता बगैर महत्वहीन है । यानी किसान का संकट , मजदूर की बेबसी , महिलाओ के अधिकार , बेरोजगारी और सामाजिक टूटन सरीखे हर मुद्दे सत्ता पाने या ना गंवाने की बिसात पर इतने छोटे हो चुके है कि भविष्य का रास्ता सिर्फ सत्ता पाने से इसलिये जा जुडा है क्योकि 2018 का पाठ अलोकतांत्रिक होकर खुद को लोकतांत्रिक बताने से जा जुडा। यानी देश बचेगा तो ही मुद्दे संभलेगें। और देश बचाने की चाबी सिर्फ राजनीतिक सत्ता के पास होती है।

यानी सत्ता के सामने संविधान की बिसात पर लोकतंत्र का हर पाया बेमानी है । और लोकतंत्र के हर पाये के संवैधानिक अधिकारो को बचाने के लिये राजनितक सत्ता होनी चाहिये । 2019 में देश के सामने ये चुनौती है कि लोकतंत्र के किस नैरेटिव को वह पंसद करती है । क्योकि मोनमोहन सिंह के अर्थशास्त्र की राह पर मोदी सत्ता है और संघ परिवार के स्वदेशी, खेती, किसानी और मजदूर की राह पर काग्रेस है। नौरेटिव साफ है काग्रेस ने मनमोहन सिंह के इक्नामी का रास्ता छोडा है लेकिन पोस्टर ब्याय मनमोहन सिंह को ही रखा है। तो दूसरी तरफ मोदी सत्ता अर्थवयवस्था के उस चक्रव्यूह में जा फंसी है जहा खजाना खाली है पर वोटरो पर लुटाने की मजबूरी है । यानी राजकोषिय घाटे को नजरअंदाज कर सत्ता को बरकरार रखने के लिये ग्रामीण भारत के लिये लुटाने की मजबूरी है ।

इस कडी में सबसे महत्वपूर्ण और आखरी चुनौती है सत्ता के लिये बनती 2019 की वह बिसात जो 2014 की तुलना में 360 डिग्री में घुम चुकी है ।इसकी परते एक्सीडेटल प्राइम मनीस्टर मनमोहन सिंह से ही निकली है ।मनमोहन सिंह या नरेन्द्र मोदी , दोनो दो ध्रूव की तरह राजनीतिक बिसात बता रहे है। क्योकि एक तरफ एक्सडेटल पीएम मनमोहन सिंह को लेकर उस थ्योरी का उभरना है जहा पीएम होकर भी मनमोहन सिंह काग्रेस पार्टी के सामने कुछ भी नहीं थे । यानी हर निर्णय काग्रेस पार्टी-संगठन चला रही सोनिया और राहुल गांधी थे । तो दूसरी तरफ नरेन्द्र मोदी की थ्योरी है जहा पीएम के सामने ना पार्टी का कोई महत्व है ना ही सांसदो का और ना ही कैबिनेट मनीस्टरो का । तो अपने ही वोटरो से कट चुके बीजेपी सांसद या मंत्री की भूमिका 2019 में होगी क्या ये भी सवाल है। यानी एक तरफ सत्ता और पार्टी का बैलेस है तो दूसरी तरफ सत्ता का एकाधिकार है।

तो 2018 बीतेत बीतते ये संदेश भी दे चुका है कि 2019 के चुनाव में बीजेपी ही नहीं संघ परिवार के सामने भी ये चुनौती है कि उसे सत्ता गंवानी है या बीजेपी को बचाना है । गडकरी की आवाज इसी की प्रतिध्वनी है । तो दूसरी तरफ सोशल इंजिनियरिंग की जो थ्योरी काग्रेस से निकल कर बीजेपी में समायी अब वह भी आखरी सांस ले रही है ।क्षत्रपो के सामने खुद को बचाने के लिये बीजेपी के खिलाफ एकजूट होकर काग्रेस की जमीन को मजबूत करना भी है। और आखिर तक मोदी सत्ता से जुडकर अपनी जमीन को खत्म करना भी है । यानी चाहे अनचाहे मोदी काल ने 2019 के लिये एक ऐसी लकीर खिंच दी है जहा लोकतंत्र का मतलब भी देश को समझना है और संविधान को भी परिभाषित करना है । इक्नामी को भी संभालना है और राजनीति सत्ता को भी जन-सरोकार से जोड़ना है ।